भूमिका।

उपनिषद्—(उप-नि-षद् = पास बैठना, से है) वह विद्या जो गुरु के चरणों में बैठकर लाभ की जाती है। उपनिषद् में रहस्य (राज़) भरे हुए हैं। आत्मा का स्वरूप क्या है और इस काया में उसका क्या प्रकाश है ? किस तरह बाहरी घटनाएं उस पर अपना असर डालती हैं ? और किस प्रकार वह इतना ऊंचा हो जाता है, कि आस पास की कोई घटना भी उस पर कोई असर नहीं डाल सक्ती ? किस प्रकार किया हुआ कर्म फल देता है? कौन इस फल को भोगता है और कौन भुगाता है ? मरने के पीछे क्या होता है ? आत्मा कहां जाता है ? किस अवस्था में रहता है ? किस प्रकार फिर आता है और क्यों फिर आता है ? आत्मा की उन्नति किस में है और उसकी अन्तिम (आखिरी) उन्नति क्या है ? इत्यादि बातों का उपनिषद में वर्णन है, और वर्णन ऐसी रीति से है, कि पढ़ने वाले को पूर्ण शान्ति मिलती है पर इनके अनुभव के लिये श्रद्धा के साथ अनुभवी के चरणों में बैठना ज़रूरी है॥

उपनिषद का असर—मनुष्य का जीवन जो एक निचली अवस्था में इतना क्षुद्र है, कि एक पाई का हानि लाभ भी उसे दुखी और सुखी बना देता है। वही एक उच्च अवस्था में इतना महान् है, कि सर्वस्व अर्पण करने में भी उसे सुख ही सुख प्रतीत होता है। पर, औपनिषद जीवन, इस से भी परे है। इस जीवन को एक कमल के पत्ते से उपमा दी गई है। जैसे कमल का पत्ता

सन्दर्भ पुस्तकालय
पु परिग्रहण क्रमांक 1980
दयानन्द महिला महाविद्यालय, कुरुक्षेत्र

बृहदारण्यक—शतपथ ब्राह्मण का आखिरी हिस्सा है। यह ग्रन्थ बड़ा है और इस में उपनिषद के सारे विषय आजाते हैं। ब्रह्मविद्या के अन्तरंग बहिरंग बहुत से साधनों का इस में वर्णन है। इसलिये इसको बृहदारण्यक कहते हैं॥

शतपथ ब्राह्मण दो शाखाओं के मिलते हैं, एक माध्यन्दिन शाखा का और दूसरा काण्वशाखा का। इन दोनों का पाठ प्रायः एक ही जैसा है, कहीं २ भेद है। जो शतपथ प्रोफैसर वेबर ने छपवाया है जिस पर द्विवेद श्री नारायण के पुत्र, द्विवेद गंग की टीका है। और अब जो एशियाटिक सोसाइटी की ओर से सायणाचार्य के भाष्य सहित छप रहा है, वह माध्यन्दिनशाखा का है। यह बृहदारण्यक उपनिषद इस शाखा का नहीं, किन्तु काण्वशाखा का है। और इसीलिये यह इस छपे हुए शतपथ के आरण्यकभाग के साथ पूरा नहीं मिलता॥

बृहदारण्यक उपनिषद के छः अध्याय हैं। माध्यन्दिन शाखा के शतपथ में यह १४ वें काण्ड के चौथे अध्याय (या तीसरे प्रपाठक) से आरम्भ होती है। इस का आरम्भ "द्वयाह" इस ब्राह्मण से होताहै। काण्व शाखा की उपनिषद इस शाखा के १७वें काण्ड के आखिरी छः अध्याय हैं और यह "उषाहवै" इस ब्राह्मणसे आरम्भ होती है॥

शंकराचार्य से पहिले इस उपनिषद पर भर्तृप्रपञ्च एक बड़ा विस्तार वाला भाष्य था। वह भाष्य माध्यन्दिनशाखा की उपनिषद पर था। शंकराचार्य ने अपना भाष्य काण्व शाखा की उपनिषद पर किया। मालूम होता है, कि स्वामी शंकराचार्य ने अपने योग्य शिष्य सुरेश्वराचार्य की खातिर काण्व

शाखा की उपनिषद पर अपना भाष्य किया है । स्वामी शंकराचार्य की तैत्तिरीय शाखा थी, और सुरेश्वराचार्य की काण्व शाखा थी । और इसीलिये तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदों के भाष्य पर ही सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक लिखे । और यह इस तरह पर हुआ, कि जब कई दिनों के शास्त्रार्थ के पीछे मण्डनमिश्र को शंकराचार्य ने जीत लिया, तो उसको संन्यासी बनाकर उस का नाम सुरेश्वराचार्य रक्खा। कुछ दिनों के पीछे सुरेश्वराचार्य ने शंकराचार्य से प्रार्थना की । भगवन् ! मुझे कोई आज्ञा दें । तो शंकराचार्य ने उसे कहा—

सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषीया
शाखा, तदन्तगत भाष्य-निबन्ध इष्टः ।
तद्वार्तिकं मम कृते भवता विधेयम्
सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम् ॥ १ ॥
तद्वच्चदीया खलु काण्वशाखा
ममापि तत्रास्ति तदन्त भाष्यम् ।
तद्वार्तिकं चापि विधेय मिष्टं
परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ॥ २ ॥

सच है, जो तुम कहते हो, हेप्यारे! मेरी (शंकराचार्य की) शाखा यजुर्वेद की है। उसके उपनिषद (तैत्तिरीय) पर मैंने भाष्य किया है । अब मेरी खातिर तुम उस पर वार्तिक लिखो । क्योंकि सत्पुरुषों का काम औरों के हित के लिये ही होता है ॥

२. इसी प्रकार तुम्हारी जो काण्वशाखा है, उसके उप-

निषद (बृहदाण्यक) पर भी मैंने भाष्य किया है, उसका भी एक अच्छा वार्तिक बनाओ, सत्पुरुषों की प्रवृत्ति लोगों की भलाई में होती है ॥

उपनिषदों की संख्या तो बहुत है पर प्रधान उपनिषद ये दस हैं—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरः ।
ऐतरेयं च छांदोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥

इन्हीं दस पर स्वामी शंकराचार्य का भाष्य है । वेदान्त सूत्रों पर शंकराचार्य ने कौषीतकी और श्वेताश्वर पर भी विचार किया है । और कहीं २ पैङ्गी, अग्निरहस्य, जाबाल और नारायणोपनिषद का भी प्रमाण है ॥

डाक्टर वेबर की इस भ्रान्ति को कि कौषीतकी पर शंकराचार्य का भाष्य है, डियूसन ने ठीक कर दिया है ॥

प्रोफैसर मैक्समूलर श्वेताश्वतरोपनिषद पर भी शंकराचार्य का भाष्य समझते हैं। और उस भाष्य की समाप्ति में भी गोविन्द का शिष्य शंकराचार्य ही बनाने वाला लिखा है । पर उस भाष्य के पढ़ने से यह भ्रान्ति दूर हो सक्ती है । इसका लेख शंकराचार्य के लेख से भिन्न प्रतीत होता है और विचार भी उस रीति का गम्भीर नहीं जो शांकरभाष्य में है । इस भाष्य में श्री विष्णुधर्म, श्री विष्णुपुराण, लिङ्ग और पराशर आदि के प्रमाण बहुतायत के साथ दिये हैं । यह बात भी शांकरभाष्य में अन्यत्र नहीं है । यह भाष्य या तो शंकराचार्य की गद्दी वाले किसी दूसरे शंकराचार्य ने लिखा है और उसके साथ गोविन्द का

शिष्य यह लेखकों ने मिला दिया है, या शंकरानन्द जो आनन्दात्मा का शिष्य एक और टीकाकार है, उसी के नाम को भूल से शंकराचार्य के नाम में बदल दिया गया है॥

अथर्वशिरस्, अथर्वशिखा और नृसिंहतापनी पर भी शंकराचार्य का भाष्य कहा जाता है। पर यह निःसंदेह नहीं कह सक्ते। प्रौफैसर राममय तर्करत्न ने जो १८७१ में नृसिंहतापनी छपवाई है, उस में पूर्वतापनी के प्रत्येक खण्ड की समाप्ति में गोविन्द का शिष्य शंकराचार्य लिखा था और उत्तरतापनी के अन्त में श्रीगोविन्द भगवत् इत्यादि सम्पादक ने अपनी ओर से ही लिख दिया, क्योंकि उसने ऐसा लिखना ठीक समझा था। इन उपनिषदों में से अथर्वशिरस् का नाम वासिष्ठ धर्मसूत्र २२। ९ में आया है॥

दस उपनिषदों पर राघवेन्द्रयति और आनन्दतीर्थ की स्वतन्त्र टीकाएं हैं। ये छप चुकी हैं। भास्करानन्द की संक्षिप्त टीका भी दसों पर छपी है। बृहदारण्यक पर मिताक्षरा एक संक्षिप्त टीका छपी है। तैत्तिरीय, ऐतरेय, और बृहदारण्यक पर सायणाचार्य की भी टीका है और भी कई एक टीका किसी २ उपनिषद पर हैं* ॥

---

* राममय तर्क रत्न ने ३० छोटी २ उपनिषदें १८७२ ई० में छापी हैं—
(१) शिर उपनिषद (२) गर्भोपनिषद (३) नादबिन्दूपनिषद (४) ब्रह्मबिन्दूपनिषद (५) अमृतबिन्दूपनिषद (६) ध्यानबिन्दूपनिषद (७) तेजोबिन्दूपनिषद (८) योगशिखोपनिषद (९) योगतत्त्वोपनिषद १०) संन्यासोपनिषद (११) आरुणेयोपनिषद (१२) ब्रह्मविद्योपनिषद (१३) चुरिकोपनिषद (१४) चूलिकोपनिषद (१५) अथर्वशिखोनिषद (१६) ब्रह्मोपनिषद (१७) प्राणाग्निहोत्रोपनिषद (१८) नीलरुद्रोपनिषद

उपनिषद् का अर्थ समझने में कठिनाइयां बहुत हैं । इस विद्या में रहस्य भरे हुए हैं, जिन को गुरु के चरणों में बैठकर सीखते थे । सारी उपनिषदों में इस बात का उपदेश है, कि इस विद्या को गुरु के पास जाकर सीखो, ऐसे गुरु के पास, जिसने स्वयं भी गुरु से इसके मर्म समझे हैं । श्वेताश्वर की समाप्ति में स्पष्ट कह दिया है, कि—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ।

जिसकी परमात्मा में परमभक्ति है और जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा को ये कही हुई बातें प्रकाशित होती हैं ॥

उपनिषदों के उपदेश की रीति ही इस बात को स्पष्ट कर देती है, कि यह विद्या सीना बसीना एक दूसरे के पास आती रही है । बृहदारण्यक २ । २ में इस शरीर में सात ऋषि बतलाते

---

(१८) कण्ठश्रुत्युपनिषद (२०) पिण्डोपनिषद (२१) आत्मोपनिषद (२२) रामपूर्वतापनीयोपनिषद (२३) रामोत्तरतापनीयोपनिषद (२४) हनुमदुक्त-रामोपनिषद (२५) सर्वोपनिषत्सार (२६) हंसोपनिषद (२७) परमहंसोपनिषद (२८) जाबालोपनिषद (२९) कैवल्योपनिषद (३०) गारुडोपनिषद—इन में से कैवल्योपनिषद पर आनन्दात्मा के शिष्य शंकरानन्द की टीका है बाकी २९ पर भट्टरत्नाकर के पुत्र नारायण भट्ट की दीपिका है । १८७१ ई० में नृसिंहपूर्वतापनी और नृसिंहोत्तरतापनी दोनों भाष्य समेत और शतचक्रोपनिषद नारायण की दीपिका सहित प्रकाशित की थी । ५० उपनिषदों का अनुवाद दराशिकोह ने फारसी में करवाया था ॥

हुए यह कहा है "येही दोनों गौतम और भरद्वाज हैं । यह ही गौतम है और यह भरद्वाज है" यह उपदेश इस रीति पर हुआ है, कि आचार्य शिष्य को दोनों जगह की ओर अंगुलि करके दिखलाता है, कि ये दोनों गौतम और भरद्वाज हैं । अक्षरों से इस इशारे का समझना कठिन है । शंकराचार्य दोनों से तात्पर्य दोनों कान लेते हैं और आगे लिखते हैं "गौतम दायां कान है और भरद्वाज बायां । या गौतम बायां और भरद्वाज दायां है" देखिये, वही शंकराचार्य जो संदिग्ध बहुत कम होते हैं, वे भी ऐसी जगह में संदिग्ध बाणी बोलते हैं ॥

प्रोफैसर मैक्समूलर उपनिषद् की भूमिका में लिखता है—

And I have again and again had to translate certain passages tentatively only, or following the commentators, though conscious all the time that the meaning which they extract from the text cannot be the right one.

"और मुझे कई हिस्सों का अनुवाद तो केवल प्रयत्न के तौर पर बार बार करना पड़ा, या मैंने दूसरे व्याख्याकारों का अनुसरण किया, यद्यपि मैं हमेशा जानता था, कि जो अर्थ मूल का वे देते हैं। वह भी ठीक नहीं है" ॥

यज्ञों का असर इस कुदरत पर क्या होता है? और आत्मा पर क्या होता है? यज्ञ का अंग २ किस तरह पर ब्रह्माण्ड के अंग अंग की निशानी है इत्यादि भेद जो यज्ञविद्या के साथ सम्बन्ध रखते हैं, जब यह खुल जाएंगे, तो ये कठिनाइयां बहुत कुछ दूर हो सकेंगी । पर यह सफलता भी बड़े निपुण विद्वानों को बड़े परिश्रम के साथ प्राप्त होगी ॥

पर कुछ और भी साधारण सी बातें हैं, जिनके समझे बिना वेद वेदार्थसम्बन्धी ग्रन्थों के समझने में कठिनता पड़ती है। उन को नीचे लिखते हैं—

(१) लोक तीन हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। पृथिवी दुनियां का वह हिस्सा, जिस पर हम रहते हैं। द्यौ, वह हिस्सा, जहां से हमें जीवन और प्रकाश मिलताहै। अन्तरिक्ष, वह हिस्सा, जो इन दोनों के मध्य में है। इन्हीं तीनों लोकों को त्रिलोकी कहतेहैं॥

(२) तीन देवता, अग्नि, वायु और सूर्य्य। पृथिवी का देवता अग्नि है अन्तरिक्ष का वायु और द्यौ का सूर्य है॥

(३) ऋचा, यजु, और साम ये तीन प्रकार के मन्त्र चारों वेदों में है। जो मन्त्र छन्द (नज़म) में है, वह ऋचा, जो छन्द में नहीं, गद्य (नसर) में है वह यजु और जो गाया जाता है, वह साम है॥

(४) परमात्मा को सारे जगत् का अन्तरात्मा वर्णन किया है। अन्तर्यामि ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने उद्दालक के एक प्रश्न का यह उत्तर दिया है "जो पृथिवी में रहता है और पृथिवी से भिन्न है, पृथिवी जिसका शरीर है....जो पानी के अन्दर रहता है पानी से अलग है पानी जिसका शरीर है" इसी प्रकार क्रम से प्रतिपादन किया है, कि, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, आदित्य दिशा, चन्द्र, तारा, आकाश, अन्धेरा, तेज, सब भूत, प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, मन, त्वचा, जीवात्मा और रेतस् के अन्दर रहने वाला इन का अन्तर्यामी और इन से भिन्न है, ये सब उसका शरीर हैं, (बृह० उप० ३। ७)। जीवात्मा इस शरीर का अधिष्ठाता है, उस का शरीर यही है। परमात्मा सारे विश्व का अधिष्ठाता है, सारा

विश्व उसका शरीर है। सारे देवता भिन्न २ रूप से उसी की महिमा का प्रकाश करते हैं, इसलिये भिन्न २ नामों से और भिन्न कार्य्यों से उसी का वर्णन किया है। "क्योंकि यह ही सारे देवता है" (बृह० उप० १।४।६) "जो एक ही सारे देवताओं के नाम वाला है" (ऋग्वेद १०।८२।३) "एक ही आत्मा की इस प्रकार स्तुति की गई है, जैसे कि वह बहुत से हैं" (निरु) बृहदारण्यक ३।९ में सारे देवताओं का वर्णन करके अन्त में उन सब को एक ही देवता माना है "कौन एक देव है, वह प्राण है उसी को ब्रह्म कहते हैं" (देखो वेदोपदेश पृष्ठ ३३–३४)

सारांश यह है, कि एक ही ब्रह्म सारे जगत् में परिपूर्ण हैं। और वह इस सारे जगत् को सत्ता प्रदान करता है जैसे शरीर को आत्मा। जैसे आंख देखती है, जो बिना आंख के है, वह देख नहीं सकता। पर आंख को भी अपनी शक्ति प्रकाश करने के लिये दूसरे प्रकाश की अपेक्षा है। अन्धेरे में देखने वाले और न देखने वाले की एक सी गति होती है। इसी प्रकार यह महान् सूर्य, जो इस त्रिलोकी को प्रकाशित कररहा है, उस परमात्मा से प्रकाशित होकर प्रकाशित कर रहा है। सूर्य हमारी आंख को छोड़ कर चल देता है, इसलिये हमें निश्चय हो जाता है, कि आंख सूर्य के बिना नहीं देख सक्ती। पर परमात्मा सूर्य को अकेला नहीं छोड़ते, तब हम कैसे जान पाएं, कि सूर्य उन के बिना अन्धेरा है। है तो यही, कि सूर्य उनके बिना अन्धेरा है पर इसका अनुभव करना कठिन है। इस रहस्य का मर्म समझाने के लिये केन उपनिषद् (खंड ३) की कल्पना कैसी मनोरञ्जक है। अग्नि में जो सब कुछ जला देने और वायु में सब कुछ

उड़ा देने की शक्ति थी, वे नहीं समझे, कि यह शक्ति एक दूसरी शक्ति से हमारे अन्दर है। उन्होंने अभिमान किया, कि यह हमारी केवल हमारी ही शक्ति है। ब्रह्म उनसे अलग हुआ। और तब वे शक्तिहीन हुए। सब कुछ जला देने का अभिमान रखता हुआ भी, अग्नि, एक सूखा तिनका न जला सका। और वायु न उड़ा सका। फिर कठवल्ली (४।१५) में कैसा सुन्दर उपदेश है "वहां न सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे, न ये बिजलियें चमकती हैं, कहां यह अग्नि। उसी के चमकने के पीछे सब कुछ चमकता है। उसी की चमक से सब कुछ चमकता है"

बेशक इस रचना को देखकर हम चेतन ब्रह्म का अनुमान तो कर सक्ते हैं, पर वह इस जीते जगत् का जीवन है, न अग्नि उस के बिना अग्नि है न सूर्य उसके बिना सूर्य है, यह भेद वेद ही से खुलता है—

येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तैत्ति० ब्रा० ३।१२।९)

"जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् को वह नहीं जानता है, जो वेद को नहीं जानता है" ऊपर के प्रमाणों से प्रतीत होता है, कि अग्नि का अग्निपन ब्रह्म के सहारे है और सूर्यका सूर्यपन उसीके सहारे है, तब यह बचन उसकी महिमा में कैसा संगत प्रतीत होता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः (यजु० ३२।१)

"वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु और वही चन्द्रमा है। वही शुक्र, वही ब्रह्म है, वही जल और वही प्रजापति है" उपनिषदों के बहुत से वचन जो इस मन्त्र की शैली पर लिखे हैं, इसी तात्पर्य से लिखे हैं।

सच तो यहहै कि यह सारा ब्रह्माण्ड अपना सारा निर्भर उसी एक शक्ति पर रखता है जो इसके अन्दर एक शुद्ध पवित्र और चेतन शक्ति है। यह अपनी सारी महिमा से उसी को प्रकाशित करता है, पर मुख से कभी नहीं बोलता, सदा से मौन धारण किये हुए है। अगर यह परमात्मा की महिमा को अनुभव करले और हमें बतला सके, तो सूर्य्य यह कहेगा, भू-लोक के रहने वालो! मेरी चमक देखकर मत भूलो। मैं सूर्य्य नहीं, सूर्य्य मेरे अन्दर है। उसकी इच्छा है, मैं तुम्हारे लिये चमकूं और तुम्हें जीवन दूं, बस इसी लिये मैं ऐसा कर रहा हूं। मैं तुम्हें सच बताता हूं कि यदि वह एक क्षण के लिये भी मुझ से पृथक् हो जाए, तो तुम मुझको कहीं नहीं पाओगे। अगर तुम मेरे उदय होने के कृतज्ञ हो, तो उसके कृतज्ञ बनो, जिसने मुझे तुम्हारे लिये उदय किया है, अगर तुम मुझ से जीवन लाभ करके प्रसन्न हुए हो, तो उसको धन्यवाद दो, जिसने तुम्हारे जीवन के लिये मुझे भी जीवन दिया है * ॥

---

* बृहदा० ६। १ में इसी प्रकार की कल्पना से प्राण और इन्द्रियों का संवाद दिखलाया है, अन्त में उस में यह बतलाया है, कि जब इन्द्रियों ने समझ लिया, कि हम प्राण के बिना किसी काम के नहीं, तो वाणी ने सब से अच्छा होने का अभिमान त्यागा और प्राण को कहा कि मैं जो सब से अच्छी हूं, वह तूही है इत्यादि ॥

यह बाततो एक कल्पित बात है, पर यदि तुम उपनिषदके तात्पर्य में गहरा धस जाओगे और उस रंग में रंगे जाओगे जिस में उपनिषद् तुमको रंगना चाहते हैं, तो सारे ब्रह्मांड से तुमको यही आवाज़ सुनाई देगी और यह आवाज़ उस समय ऐसी श्रद्धेय बन जाएगी, कि सारे संदेह एक दम कट जाएंगे॥

इस पर एक आशंका हो सक्ती है, और वह यह है, कि यदि सब कुछ परमात्मा की शक्ति से होता है तो हम अपने आप किसी कर्म के करने वाले नहीं हो सक्ते। जो कुछ हम करते हैं, उसका भार उस शक्ति पर है जो हम से सब काम कराती है। इसलिये हम किसी शुभ वा अशुभ कर्म के उत्तर दाता नहीं। इसका उत्तर भी उपनिषद में स्वयं युक्तियुक्त दिया है, अर्थात् कि—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषै-
र्बाह्यदोषैः। एक स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते
लोकदुःखेन बाह्यः (कठ० ५।११)

सूर्य्य यद्यपि सारे जगत् का नेत्र है, पर वह नेत्र के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार वह सब भूतों का अन्तरात्मा जगत् के पाप से लिप्त नहीं होता क्योंकि वह इससे अलग है।

जब मनुष्य में परमात्मा की ओर प्रेम इतनी उच्च अवस्था में पहुंचता है, कि दुनियां के सारे प्रेम इकट्ठे होकर उसी एक परमात्मा की ओर लग जाते हैं, तब भी मनुष्य अपना सब कुछ उसी परमात्मा को कहने लगता है। इसी प्रेम में मग्न पुरुष का यह वचन है "त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव" तुम ही माता हो तुमही पिता हो तुमही बन्धु हो तुमही सखा हो तुमही विद्या और तुमही धन हो हे देवदेव ! तुम ही मेरे सब कुछ हो। एक हिन्दी कवि ने भी ऐसे ही अवसर में क्या उत्तम कहा है—

मात तूही गुरुतात तूही मित भ्रात तूही धन धान्य भंडारो।
ईश तूही जगदीश तूही मन शीश तूही प्रभु राखन हारो॥
राव तूही उमराव तूही ममभाव तूही मम नयन को तारो।
सार तूही कर्तार तूही घर बार तूही परिवार हमारो।

(५) ब्रह्म दर्शन—ब्रह्मदर्शी जब आंख खोलकर बाहर की ओर देखताहै, तो इस कुदरत में बसा हुआ उस ब्रह्म को देखता है, वह देखता है "ब्रह्म ही यह अमर सामने है, ब्रह्म पीछे है, ब्रह्म दाईं ओर है, ब्रह्म बाईं ओर है। नीचे ऊपर फैला हुआ मानों यह सुन्दर सारा ब्रह्म ही है (मुण्डक० २। २। ११) यहां वह उस ब्रह्म को कुदरत के साथ देखता है, पर जब वह इस में मग्न हो जाता है. तो अपने आत्मा में उसके केवल स्वरूप को देखता है "जब योगं युक्त होकर दीपक के सदृश आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्व को देख ले, जो अजन्मा, अचल, सब तत्वों से शुद्ध है। तब उस देव को जानकर सब फांसों से छूट जाता है, (श्वेता० उप० २। १५)। अब उसको प्रकृति नहीं जकड़ सक्ती, क्योंकि वह इसके बन्धनों से परे पहुंच गया है, इसीलिये अब वह "निरञ्जनः परमं साम्य मुपैति" (मुण्ड० उप० ३।१।३) ब्रह्म के परम समता को प्राप्त हुआ है। अब प्रकृति उसके सामने वही हकीकत रखती है, जो इसकीब्रह्मके सामनेहै, इसीलियेकहाहै "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति"

इस अवस्था में इन्द्रियों की तृप्ति के लिये उसे विषयों की

आवश्यकता नहीं रहती। उत्तम से उत्तम रस और बड़े से बड़े सुख उसे तुच्छ मालूम देते हैं। मानो उसके लिये सारे इन्द्रियों के रस उस परमात्मा में विद्यमान हैं और वह कहता है—

एष सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वकामः (छान्दो०)

यह (परमेश्वर) सारे गन्धों वाला सारे रसों वाला और सारी कामनाओं वाला है। यह सच है, ऐसी अवस्था में उसके सामने जगत् नहीं रहता, क्योंकि इन्द्रिय मन के अधीन हैं, जाग्रत अवस्था में उनकी यह दशा है, कि जब मन किसी विचार में लगा हुआ हो, तो ये इन्द्रिय अपना काम नहीं करते। ऐसी अवस्था में कोई पुरुष उसके सामने से निकल जाए, वह उसको नहीं देखता। भला जब परमेश्वर के प्रेम में मन लीन हो जाए, तो फिर इन्द्रियों की क्या शक्ति है, कि वे उसकी आज्ञा के बिना कोई काम कर सकें। ऐसी अवस्था में जीवात्मा न केवल इस बाह्य जगत् को ही भूल जाता है, किन्तु वह अपने आपको भी भूल जाता है। अतएव ऐसी अवस्था में उसे केवल ब्रह्मही ब्रह्म दिखाई पड़ता है, क्योंकि अब उसका बाह्य जगत् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा, पर जगत् का इस अवस्था में भी अभाव नहीं हो गया, वह पहिले की न्याईं विद्यमान है। इसमें संदेह नहीं हो सक्ता, कि ऐसे पुरुष के पास कोई द्वार अब विद्यमान नहीं, जिस से वह जगत् को देख सके। शास्त्र ने ऐसी अवस्थाके लिये तो कहा है "जिस अवस्था में उसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया, उस अवस्था में किस से किस को देखे, किससे किस को सुने, और किससे किस को सूंघे" (बृहदा० ६।५।१५) "प्राज्ञ आत्मा से गले लगाया हुआ न कुछ बाहर देखता है न

भीतर (अर्थात् सब कुछ भूल जाता है) (बृहदा० ६ । ३ । २१) प्रेमी जन यदि अपने प्रेम पात्रको पाकर सब कुछ न भूल जाए, तो वह प्रेमी नहीं हो सक्ता। प्रेमी वही है, जो अपने प्रेमास्पदकी चाह में ही सब कुछ भुला दे और उसको पाकर तो अपने आप से भी बेखबर हो जाये ॥

जैसा ऊपर दिखला दिया है इस प्रकार अवस्था के भेदसे और तात्पर्य के भेद से वचन बोलने की रीति बदल जाती है, यह रीति उपनिषदों में बहुधा पाई जाती है। वहां गहरी दृष्टि से तात्पर्यको ढूंढना चाहिये क्योंकि तात्पर्य ही शब्द का अर्थ है। यह भी प्रायः देखा जाता है, कि लोकप्रचीलत कहावत के आश्रय से उपदेश दिया जाता है, पर उस कहावत के सच्चा होने में उपदेष्टा का तात्पर्य नहीं होता, कल्पित कथाओं के सहारे से उपदेश दिया जाता है पर उन कल्पित कथाओं की सचाई में उसका तात्पर्य नहीं होता। उपदेश्य की मानी हुई बात को लेकर उपदेश दिया जाता है, पर उपदेष्टा स्वयं उसको नहीं मानता, क्योंकि उसका उद्देश्य उपदेश्य की मानी हुई बात के मानने न मानने में नहीं। किन्तु अपना तात्पर्य समझाने में है। इसलिये यह भार उस पर नहीं डाला जा सक्ता। उसका जिस अंश में तात्पर्य है उसी अंश में उसकी ज़म्मावारी है। इधर हमारी यह ज़म्मावारी है, कि उनके तात्पर्य को ढूंढें और तात्पर्य से बाहर उन पर आक्षेप न करें ॥

और भी कई एक बातें हैं, जो खोलकर वर्णन करने योग्य हैं, उनको अपनी २ जगह पर वर्णन किया जाएगा ॥

औपनिषद जीवन प्राप्त करने के लिये उपनिषदों के बताए धर्मपथ पर चलना ज़रूरी है। उपनिषदों को इस नियत से पढ़ो

कि उससे उच्च जीवन लाभ करें। भेद वा अभेद मानने वाले दोनों को उपनिषद् उच्च जीवन दे देते हैं,पर शोक है,कि आज कल के पढ़ने वाले उधर दृष्टि न देकर सारा आयु इसी झगड़े में खो देते हैं॥ उपनिषद् का अर्थ लिखने में हमने मूल के क्रम को सामने रक्खा है। जो कुछ अपनी ओर से लिखा है, वह बन्धनी ( ) के अन्तर्गत है। इस से किस शब्द का क्या अर्थ है, इसके समझने में बड़ी आसानी रहेगी। हां जहां कहीं मूल के क्रम से लिखने में भ्रान्ति होने का सम्भव है। वहां शब्दों के क्रम को त्याग कर हिन्दी की शैली पर लिखा है॥

ग्रन्थका असली अर्थ ढूंढनेमें अपनी बुद्धि अनुसार पूरा प्रयत्न किया है ग्रन्थ को अपने ख्याल पर चलाने की हमारी कभी नियत नहीं हुई। हां, असली अर्थ ढूंढने में हमने अपनी बुद्धि अनुसार पूरा प्रयत्न किया है, और जो कुछ ग्रन्थ में है, उसका प्रकाश करना ही अपना कर्तव्य समझा है, अपनी सम्मति को उतना ही प्रवेश दिया है, जितना हमें अधिकार है॥

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।

(ऋग्वेद १०।३७।२)

बृहदारण्यक उपनिषद् ।

पहला अध्याय * पहला ब्राह्मण †

ओ३म् उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः । सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमाग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य । द्यौः पृष्ठ मन्तरिक्ष मुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तर-दिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध-मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मा ँसानि । ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्चक्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद् विजृम्भते तद् विद्योतते, यद् विधूनुते तत् स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

उषा ‡ यज्ञ के योग्य घोड़े का सिर है । सूर्य आंख है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि § खुला (मुंह) है और वरस, यज्ञ के

---

* आरण्यक का यह तीसरा अध्याय है, पर उपनिषद का पहला है ॥

† इस उपनिषद में तीन प्रकार के अंक हैं, पहला अध्याय का दूसरा ब्राह्मण का और तीसरा खण्ड का । इस पहले ब्राह्मण का नाम अश्वब्राह्मण है ॥

‡ उषा = वह समय जब आकाश में लाली पड़ती है ॥

§ वैश्वानर अग्नि = वह अग्नि जो हर एक पदार्थ में फैला हुआ है अर्थात् समष्टि रूप अग्नि ॥

योग्य घोड़े का शरीर है। द्यौ पठि है, अन्तरिक्ष पेट है पृथिवी छाती* है दिशाएं पासे हैं, अन्तराल दिशाएं (कोणें) पसलियां हैं, ऋतुएं अंग (भुजा, टांगें आदि) हैं, महीने और आधे महीने जोड़ हैं, दिन और रात पाओं हैं, तारे हाड्डियें हैं बादल मांस है, आधी हज़म हुई खुराक रेत है, नदियें अंतड़ियां हैं, जिगर और फेफड़े† पहाड़ हैं, ओ षधियां और बनस्पति लोम हैं, ऊपर को चढ़ता हुआ (सूर्य उसका) अगला आधा (शरीर) ‡ है (दुपहर से पीछे) नीचे उतरता हुआ (सूर्य) पिछला आधा (शरीर) है, जो जंभाई लेता है, वह चमकता है, जो (शरीर को) झाड़ता है, वह कड़कता है, जो मूतता है वह बरसता है, वाणी (गर्जना) ही इसकी वाणी (हिनहिना) है ॥ १ ॥

---

* पाजस्य शब्द संदिग्ध है। शंकराचार्य ने इसका अर्थ पादस्थ ॥ खुर किया है। पर यदि यह अर्थ होता, कि पृथिवी खुर है, तो इस का वर्णन "दिन और रात पाओं है" इसके पीछे आना चाहिये था, क्योंकि सिर से लेकर पाओं तक सिलेसिले वार सारे अंगों का वर्णन है और 'पाजस्य' की जो जगह है, यह खुर के वर्णन की नहीं। किन्तु छाती अर्थ करने में क्रम ठीक रहता है। (२) और यहां ही आगे (१। २। ३ में) द्यौ को पीठ और अन्तरिक्ष को पेट कह कर पृथिवी को उरस् = छाती बतलाया है। (वेद में जो पाजस् शब्द आता है, वह बल और मजबूती के अर्थ में आता है और बल और मजबूती का आधार छाती को वर्णन करना जगत्प्रसिद्ध है ॥

† गुदा, बहुवचन है, इस का अर्थ मल को बहाने वाली अन्तड़ियां किया गया है ॥

‡ क्लोमानः, बहुवचन है। शंकराचार्य लिखते हैं, कि क्लोमानः यह सदा बहु वचन आता है, पर है एक ही वस्तु। अर्थात् हृदय के नीचे मांस का लोथड़ा और यह जिगर के मुकाबिल में बतलाया है, इसलिये फेफड़ा ख्याल किया गया है ॥

इसमें अश्वमेध के घोड़े के विषय में जो रहस्य है उस का वर्णन किया है। यह सारा जगत् समष्टिरूप में विराट् है, यह विराट् एक पुरुष है, भिन्न २ देवता उसके भिन्न २ अंग हैं, जैसे सूर्य नेत्र है और वायु प्राण है इत्यादि (देखो ऋग० १०। ९० और अथर्व १०। ७। ३२–३४) इसी विराट् से हमारा जीवन बना है और इसी के अंगों से हमारे अंग बने हैं, जो कुछ इस बड़े ब्रह्मांड में है, वही हमारे इस छोटे शरीर में है "जो ब्रह्मंडे सोई पिण्डे" (देखो ऐतरेयारण्यक २। ४। १–२; २। ३। ३;) हमारे अन्दर की शक्तियां इन बाहर की शक्तियों के साथ ओत प्रोत हो रही हैं, यदि यह बाहर का जगत् शुद्ध, पवित्र, बलिष्ठ और दृढिष्ठ है, तो हमारी अध्यात्म शक्तियों पर उसका वही असर पड़ता है। इसी प्रकार यदि हमारी अध्यात्मशक्तियां शुद्ध, पवित्र, बलिष्ठ और दृढिष्ठ हैं, तो वे इस बाहर के जगत् को वैसा ही बना देने का सामर्थ्य रखती हैं। यज्ञ का नियम इसी आधार पर है। बाहरी जगत् में जो स्वभावतः यज्ञ हो रहे हैं, उन्हीं की नकल ये हमारे यज्ञ हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो यज्ञों का वर्णन है उस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यज्ञ नया नहीं उत्पन्न किया जाता, किन्तु वह पहले ही वर्तमान है, उसको फैला दिया जाता है। यज्ञके लिये 'वितन्' धातु = फैलाने, का प्रयोग होता है। हमारे यज्ञ स्वाभाविक यज्ञ से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये हमारे यज्ञों के अंगों से उपमा दिये गए हैं। यज्ञ के तीनों अग्नियों को तीनों लोकों से उपमा दी गई है। गार्हपत्य अग्नि को भू-लोक से दक्षिणाग्नि को अन्तरिक्ष से और आहवनीय अग्नि को द्युलोक से। इसी प्रकार यहां अश्वमेध का जो अश्व है, उसके अंगों को

विराट् के अंगों से उपमा दी गई है । व्यष्टिजीवन को समष्टि जीवन के साथ मिला देना यज्ञ की उपनिषद है। जब इस विराट् पुरुष की आज्ञा से यह अग्नि ही बाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ है और वायु ही प्राण बन कर नाक में प्रविष्ट हुआ है (देखो एतरेयारण्यक २।४।२) तो अब भी बाणी अग्नि रूप और प्राण वायु रूप है। यह बात ऐतरेयारण्यक (३।१।७) के देखने से और भी स्पष्ट हो जाएगी, जहां पुरुष की विभूतियों का वर्णन है। इस आशय से यहां अश्व के अंग और कर्मों की विराट् के अंगों और कर्मों के साथ एकता दिखलाई है । यही बात "आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः" (ब्रह्मसूत्र ४।१।६) में दिखलाई है। ऐसे मर्म यज्ञका आत्मा हैं, जो इनके समझे बिना और यज्ञ काल में इनका ध्यान किये बिना यज्ञ करता है, उसका यज्ञ आत्मा से शून्य बाहर का आडम्बर है और वह बहुत थोड़ा फल देता है। छान्दोग्य उपनिषद (१।१।१०) में कैसा उत्तम कहा है "कर्म तो दोनों ही करते हैं जो इसको ठीक समझता है और जो नहीं समझता है, पर जानना और न जानना एक जैसा नहीं, जिस कर्म को यह पुरुष विद्या, श्रद्धा और उपनिषद के साथ करता है, वही कर्म पूरा बल रखता है" इसलिये कर्म करने वाले को उसके मर्म का जानना और कर्म करते समय उसी में लौलीन हो जाना आवश्यक है। और यह लौलीन हो जाने का अभ्यास जब बढ़ जाता है, तो बिना कर्म अपने संकल्पबल से उस फल को प्राप्त कर लेता है। संकल्प में प्रबल शक्ति है, इस विषय में शाण्डिल्य ने (छान्दो० ३।१४) कैसा ज़ोर दार कहा है, कि यह पुरुष संकल्पमय है, यह जैसा इस लोक में सं-

कल्प रखता है, इस से जुदा होकर वैसा ही जा बनता है। उसको चाहिये कि वह संकल्प बनाए कि यह आत्मा जो एक अणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और इस सारी दुनिया से भी अत्यन्त बड़ा है....मैं यहां से जुदा होकर उसी को प्राप्त हूंगा, पर यह पक्का विश्वास हो संदेह की कोई रेखा न रही हो। इसी प्रकार दूसरी जगह (छान्दो० ५। १८–२४) कैसा सुन्दर उदाहरण मिलता है, कि प्रबल संकल्प एक हृदय से उठकर किस प्रकार सारे विश्व पर अपना असर डाल देता है। और वहां ही यह भी स्पष्ट मिलता है, कि जब संकल्प में पूरा बल आ जाता है, तब ही अग्निहोत्र सच्चा अग्निहोत्र बनता है, और एक शक्तिवाला पुरुष केवल संकल्प की शक्ति से भी उसी फल को उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार यहां भी यही उद्देश्य है, कि एक शक्ति वाला पुरुष बिना अश्वमेध किये केवल संकल्प की शक्ति से भी उसी फल को प्राप्त होता है। ज्ञानी के लिये यही अश्वमेध है, कि वह इस प्रकार से विराट का ध्यान करता है॥

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमा ऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयोभत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वानर्वा-ऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ २॥

दिन घोड़े के आगे की महिमा (के तौर पर) चढ़ा, उस का पूर्व समुद्र में स्थान (योनि) है। रात इस के पीछे की महिमा (के तौर पर) प्रकट हुई, उसका पश्चिमी समुद्र में स्थान है। ये दोनों घोड़े की दोनों ओर की महिमा बने॥ *

आगे बढ़ने वाला होकर वह (घोड़ा) देवताओं को ले गया, वाजीहोकर गन्धर्वों को, दौड़ने वाला होकर असुरों को औरअश्व (सामान्य घोड़ा) होकर मनुष्यों को। समुद्र ही † इसका बन्धु है और समुद्र ही इसका उत्पत्तिस्थान है॥

---

* दो ग्रह अर्थात् यज्ञ के बर्तन, जिन में हवि डाली जाती है, वे अश्वमेध में घोड़े के आगे और पीछे रक्खे जाते हैं। अगला ग्रह सोने और पिछला चांदी का होता है। यज्ञ की परिभाषा (इस्तलाह) में इन दोनों को महिमा (बड़ाई) कहते हैं। और जिस जगह पर यह दोनों ग्रह (बर्तन) रक्खे जाते हैं, उस को योनि कहते हैं। यहां दिन अगली महिमा (सोने का बर्तन) कहा है। और रात्रि पिछली महिमा (चांदी का बर्तन) कहा है। और पूर्वी पश्चिमी समुद्र इन दोनों बर्तनों के रखने की जगह हैं, यह ऐसे अभिप्राय से कहा है जैसे जापान को सूर्य्य चढ़ने का स्थान कहते हैं। वाजसनेयि संहिता २३। २; ४ में महिमा और योनि का वर्णन है।

† समुद्र = परमात्मा अथवा प्रसिद्ध जो समुद्र है; (शंकराचार्य)

दूसरा ब्राह्मण *

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्

आरम्भ में यहां कुछ नहीं था (जो अब यहां दीखता है) यह मृत्यु से ही ढपा हुआ था—भूख से †। क्योंकि भूख मृत्यु है।

---

* इस ब्राह्मण का नाम अग्नि ब्राह्मण है। इस में अश्वमेध के अग्नि का तत्त्व उपदेश किया है, यह माध्यन्दिन शतपथ १०। ६। ५ में है॥

† जिस तरह मट्टी के बर्तन मट्टी से निकल कर अलग रह कर फिर मट्टी में मिल जाते हैं। और मट्टी ही बन जाते हैं। इसी तरह यह जगत प्रकृति से निकल कर फिर प्रकृति में मिल जाता है और प्रकृति ही बन जाता है। उस प्रकृति के अन्दर उस का अधिष्ठाता ब्रह्म है जो इस जगत् को अपने असली रूप में लेजाता है। प्रलय काल में प्रकृति के साथ मिला हुआ वह ब्रह्म इस का मृत्यु है, मानों वह इस के लिये एक भूख है, जिस की खुराक यह सारा जगत् बन जाता है। कठवल्ली (१। २। २४) में सारे जगत् को उसका भोजन बतलाता है। और इसी पर ब्रह्मसूत्र (१। २। ९) में सिद्ध किया है "अत्ता चराचर ग्रहणात्" यह खाने वाला परमात्मा है क्योंकि (प्रलयकाल) में (सारे) चराचर को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार यहां भी प्रलयकाल में प्रकृतिके अधिष्ठाता ब्रह्म को मृत्यु और भूख कहा हैं। (प्रश्न) कोई वस्तु नास्तित्व से अस्तित्व में नहीं आती, यह जगत् जब प्रलयकाल में था ही नहीं, तो कहां से उत्पन्न हुआ (उत्तर) प्रलयकाल में भी था, इसी लिये प्रकट हुआ (प्रश्न) यहां तो लिखा है, कि कुछ नहीं था फिर कैसे कहते हो, था (उत्तर) इसी के आगे लिखा है, कि यह मृत्यु से ही ढपा हुआ था, जो ढपा हुआ था, वह था, जो ढपी हुई वस्तु है, वह अवश्य है, उस से कौन इनकार कर सकता है। (प्र०) यदि था, तो दीखता क्यों नहीं था (उ०) किस को दीखता? ब्रह्म को, वा जीव को.

गुरु विरजानन्द दैदिक साहित्य
अन्तर्गत पुस्तकालय
पु परिग्रहण क्रमांक 2407
दयानन्द महिला महा

अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुता त्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वं। कꣳ हवा अस्मै भवति, य एव मेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १॥

(प्र०) ब्रह्म को (उ०) ब्रह्म को दीखता था (प्र०) तुम कैसे जानते हो, कि उस को दीखता था (उ०) तुम कैसे जानते हो कि नहीं दीखता था (प्र०)मैंने तो यूं ही कहा है,आप से उत्तर पाने के लिये (उ०) अच्छा तो सुनिये, क्योंकि यह ढपा हुआ था, इस लिये था। और ब्रह्म (मृत्यु) से ही ढपा हुआ था, इस लिये वह इस को अवश्य जानता था (प्र०) अच्छा तो जीव को क्यों नहीं दीखता था (उ०) जीव को कैसे दीखता (प्र०) जैसे अब दीखता है (उ०) अब तो आंखो से दीखता है, उस समय आंखें न थीं (प्र०) क्या अगर आंखें होतीं, तो देख पाता (उ०)नहीं देख पाता(प्र०)फिर यह क्यों (उ०) इस लिये कि ढपा हुआ था, ढपी हुई चीज़ अब तुम्हें कब दिखलाई देती है (प्र०) ढप कैसे गया (उ०) मृत्यु ने उस को ढांप दिया। जो चीज़ विद्यमान है, उसके ढांपने वाली दूसरी चीज़ होती है, जैसे दीवार की ओट में कुछ नहीं दीखता। और जो अभी पैदानहींहुई,वह अपने कारण में ढपीरहती है जैसे तिलों में तेल, दूध में मक्खन और मट्टी में मट्टी के बर्तन। जो हो कर नष्ट होती है वह भी अपने कारण में ढप जाती है, जैसे जल कर लकड़ी। नाश का अर्थ ही छिप जाना (न दीखना) है। अभाव किसी वस्तु का नहीं होता। जो कुछ उत्पन्न हुआ है, मृत्यु उसको एक दिन छिपा देती है अपने कारण में ढांप देती है। इसी प्रकार इस जगत् को भी मृत्यु ने छिपा दिया था। अभाव इस का नहीं था और न अभाव से उत्पन्न हुआ। स्वामी शंकराचार्य ने यहां अपने भाष्य में बड़ी प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया है, कि अभाव से भाव की उत्पत्ति किसी तरह नहीं हो सक्ती उन का वह विचार बड़ा ही मनोरञ्जक है।

उसने ख्याल किया, कि "मैं शरीर वाला होऊं" * वह पूजा करता हुआ विचरा, † इस प्रकार उसके पूजा करते हुए जल ‡ उत्पन्न हुए। (उसने कहा) निश्चित मेरे लिये जल हुआ है, जब मैं पूजा कर रहा था। यही अर्क का अर्कपन है §। निश्चित उसके लिये जल (वा सुख) होता है, जो इस प्रकार अर्क के इस अर्कपन को जानता है॥

---

* अर्थात् इस प्रकृति से एक रचना रचूं, जो मेरे शरीर की जगह हो, और जिस का अन्तरात्मा होकर मैं उसको अपने नियम में चलाऊं॥

† पूजा करता हुआ, सृष्टि के रचने में मैं समर्थ हूं इस प्रकार ब्रह्म का अपने सामर्थ्य को देखना अपना आदर वा अपनी पूजा है॥

‡ जब प्रकृति में इस जगत् की रचना के लिये क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होता है। तो एकदम यह स्थूल जगत् उत्पन्न नहीं होजाता, किन्तु पहले एक सूक्ष्म सृष्टि बनती है, जिस को इस स्थूल जगत् का कारण वा बीज कहते हैं। उस सूक्ष्म सृष्टि को आर्ष ग्रन्थों में जल वा समुद्र के नामों से लिखा है। अघमर्षण मंत्रों (ऋतं च सत्यं। ऋग् १० १९०। १-३) में "ततः समुद्रो अर्णवः" से इसी समुद्र की सृष्टि कही है। क्योंकि प्रलय (रात्री) के पीछे यही सूक्ष्म सृष्टि होती है। पृथिवी का समुद्र पृथिवी के बनने पर होसक्ता है, पहले नहीं। मनु १। ८ में इसी सूक्ष्म सृष्टि को जल कहा है। इस सूक्ष्म सृष्टि को समुद्र वा जल कहने का यह अभिप्राय है, कि यह समुद्र की तरह इस आकाश में भर जाती है, और बहते हुए पानी की तरह उस में क्रिया रहती है। पतली होती है और इस जगत् का बीज है, यही सूक्ष्म सृष्टि ब्रह्म का पहला शरीर है। इसी शरीर वाला ब्रह्म हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा कहलाता है॥

§ अर्क का अर्कपन है अर्थात् जल क्यों अर्क कहा जाता है। अर्च पूजा करना, और क = सुख। जल पूजा करते हुआ है और सुख का साधन हैं इस लिये जल अर्क है॥

आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत् तत्समह-न्यत, सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्, तस्य श्रा-न्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निर्वर्ताग्निः ॥ २ ॥

निस्संदेह जल अर्क है, वह जो जलों की झाग थी, वह जम गई। (और) वह पृथिवी बनी * उस (पृथिवी) में उस (मृत्यु) ने श्रम (मेहनत) किया। जब उसने श्रम किया और गर्म हुआ, तब उससे तेज (रूप) रस निकला—अर्थात् अग्नि† ॥

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं, कि अर्क से यहां अभिप्राय अग्नि है, क्योंकि अश्वमेध के अग्नि का यह प्रकरण है। यह सम्भव है, परन्तु अक्षरों के स्वारस्य से यहां अर्क से जल का अर्थ लेना ही ठीक प्रतीत होता है जिन से कि परम्परा से अग्नि उत्पन्न हुआ। यहां अग्नि के प्रकरण का यह सम्बन्ध है जैसा आगे लिखा है। जलों से पृथिवी हुई उस पर ब्रह्म ने श्रम किया, और जब उस ने श्रम किया और तपा तो उस से अग्नि उत्पन्न हुई। यह अग्नि तीन रूपों में है, अग्नि सूर्य, और वायु। और यह तीनों मिल कर प्राण कहलाता है। आनन्द तीर्थ ने भी यहां अर्क से जल अर्थ ही लिया है॥

* आधे बिलोए दूध में जो ऊपर मलाई वाली झाग आ जाती है, उसका नाम शर है। यहां सूक्ष्म सृष्टि को जल कहा है, उस में लगातार क्रिया रहने के पीछे जो शरकी नाईं फूला हुआ घना भाग इस में से अलग हुआ, वही ज्यादा घना होकर एक गोला बन गया। पृथिवी से यहां तात्पर्य गोला है। ऋग्वेद (१।१०८।९-१०) में इसी अभिप्राय से भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों के लिये पृथिवी शब्द का प्रयोग है।

† पहले उसका काम सूक्ष्म सृष्टि में था, अब जब स्थूल सृष्टि हुई, तो उसका काम इसमें आया, यह गोला घूमने लगा, दीप्त हुआ प्रचंड हुआ और इस से अग्नि प्रकट हुई॥ अश्वमेध का अग्नि जिस

सत्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतादित्यंतृतीयंवायुंतृतीयꣳ सएष प्राणस्त्रेधाविहितः तस्य प्राची दिक् शिरोऽसौ चासौ चेमौ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौचासौ च सक्थ्यौ । दक्षिणाचोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो, यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

उसने तीन प्रकार से अपने आपको अलग किया, आदित्य (सूर्य) तीसरा है, वायु तीसरा है (और एक तीसरा अग्नि है*) सो यह प्राण तीन प्रकार से विभक्त हुआ है । उस का, पूर्व की दिशा सिर है, वह और वह (अर्थात् उत्तरपूर्व और दक्षिणपूर्व) दोनों भुजाएं हैं । और इसकी, पश्चिम दिशा पूंछ है, और वह और वह (उत्तर पश्चिम और दक्षिण पश्चिम) रानें हैं । दक्षिण और उत्तर (दिशा) पासे हैं, द्यौ पीठ है, अन्तरिक्ष पेट है, यह (अर्थात् पृथिवी) छाती है† । सो यह (विराट्

को अर्क कहते हैं, वह इसी अग्नि का व्यष्टि रूप है। इस सारे ब्राह्मण का उद्देश्य उस अग्नि (अर्क) का असली रूप वर्णन करने में है ॥

* जब अग्नि, वायु और आदित्य तीनों त्रिलोकी में विभक्त हुए, तो तीनों ने अपनी २ महिमा से उसी की महिमा, का प्रकाश किया। आदित्य के अन्दर रह कर वही जगत् को प्रकाश देता है और वायु के अन्दर रह कर वही प्राणों की रक्षा करता है, और वही फिर उस अग्नि में प्रकाशित है, जिस में यज्ञ करने वाला अपनी हवि देता है ॥

† प्रथम ब्राह्मण में अश्व को विराट् वर्णन किया है । यहां अग्नि (अर्क) को विराट् वर्णन किया है ॥

अग्नि) जलों में प्रतिष्ठित है,* और वह जो इस (रहस्य) को जानता है, वह जहां कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठा पाता है ॥

सोऽकामयत द्वितीयो मे आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳसमभवदशनाया मृत्युः । तद यद् रेत आसीत् स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस । तमेतावन्तं कालमबिभः, यावान् संवत्सरः। तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात् स भाणकरोत् सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

उस ने चाहा "मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो"† वह ख्याल से (अपने) जोड़े बाणी के साथ संगत हुआ‡—भूख मृत्युः । तब जो बीज था, वह बरस हुआ । उस से पहिले बरस नहीं था । (बाणी ने) उसको उतना काल (गर्भ) में धारण किया, जितना बरस है। उसको इतने काल के पीछे उत्पन्न किया। जब वह उत्पन्न हुआ, तो (मृत्यु ने) उसकी तर्फ मुंह खोला । उसने भाण् (शब्द) किया, वही बाणी (आवाज़) हुई ॥

---

* मृत्यु जिसने पहले जल, पृथिवी और अग्नि आदि को अपना शरीर उत्पन्न किया है । अब उसने चाहा मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो, जो बरस या बरस भर का यज्ञ है । बरस सूर्य के अधीन है। और सूर्य की उत्पत्ति पहले कह दी है ॥

† बाणी के साथ संगत हुआ, इससे तात्पर्य है, कि वेद में जो सृष्टि का क्रम अनादि से विधान किया हुआ है, उसका ख्याल किया (शंकराचार्य)

‡ यह स्थूलसमष्टिरूप विराट् जलों में अर्थात् सूक्ष्मसमष्टि (हिरण्यगर्भ) में ठहरा हुआ है ॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये, कनीयोऽन्नं करिष्य इति। स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत, तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

उसने सोचा 'यदि मैं इसको मारता हूं' तो थोड़ा सा अन्न बनाउंगा (अन्न होगा) तब उस वाणी के साथ * उस शरीर (संवत्सर) से उस सबको रचता हुआ, जो यह कुछ है, ऋचाएं, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, मनुष्य और पशु। उस (मृत्यु) ने जो २ कुछ रचा, उसको खाने के लिये धारण किया। निःसंदेह वह सब कुछ खा जाता है, यह अदिति का अदितिपन है-(वह सब कुछ खा जाता है, इसलिये उसको अदिति कहते हैं)। जो इस प्रकार अदिति के अदितिपन को जानता है, वह इस सब का खाने वाला होताहै, और सब उसका अन्न होता है॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सो

---

* उस वाणी से तात्पर्य वेदरूप वाणी है। और आगे जो इसी से वेदों की उत्पत्ति कही है, इसका तात्पर्य यह है, कि पहले वेद अव्यक्त (अप्रकट) थे, फिर व्यक्त हुए (शंकराचार्य), वाणी से अभिप्राय विराट् की वाणी-भाण शब्द है। उस वाणी से वेदों को रचा और विराट् के शरीर से मनुष्य और पशुओं को रचा (सुरेश्वराचार्य)

ऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् । प्राणा वै यशोवीर्यम् । तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीर ँ श्वयितुमध्रियत, तस्य शरीरएव मन आसीत् । ६

उसने इच्छा की "एक बहुत बड़े यज्ञ से फिर यजन करूं" उसने श्रम किया और उसने तप तपा । जब वह श्रम कर चुका और तप तप चुका, तो उसका यश वीर्य (उस से) निकल गया, निःसंदेह यश वीर्य प्राण* है । प्राणों के निकल जाने पर(उसका) शरीर फूलने लगा । उसका मन (ख्याल) शरीर में ही रहा ॥

सोऽकामयत, मेध्यं म इद ँ स्यादात्मन्व्येनन-स्यामिति । ततोऽश्वः समभवद् यदश्वत् तन्मेध्यमभ-दिति तदेवाश्वमेधस्या ऽश्वमेधत्वम् । एष हवा अश्व-मेधं वेद य एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । त ँ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून् देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात् सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमा-लभन्ते । एष हवा अश्वमेधो य एष तपति । तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमेलोका आत्मान-स्तावेतावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृ-त्युरेव । अपपुनर्मृत्यं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्यु-रस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७ ॥

* प्राण से इन्द्रिय और प्राण दोनों अभिप्रेत हैं । इन्द्रियां और प्राण ही शरीर के यश और बल हैं ॥

उसने इच्छा की "मेरा यह (शरीर) यज्ञ के योग्य (मेध्य) हो जांए" इस लिये वह अश्व हुआ, क्योंकि वह फूल गया था (अश्वत्)। (और अब) वह यज्ञ के योग्य (मेध्य) हुआ। यह अश्वमेध का अश्वमेधपन है। निःसंदेह यह पुरुष अश्वमेध को जानता है, जो इस (रहस्य) को इस प्रकार जानता है। (अब) उस (अश्व) को उसने बिना रोके हुए (आज़ाद, खुला) ख्याल किया। उसको, बरस के पीछे अपने लिये भेंट किया (और दूसरे) पशुओं को देवताओं को दिया। इसीलिये (अब भी यज्ञ करने वाले) पवित्र किये हुए (जल छिड़के हुए) प्रजापति सम्बन्धी (अश्व) को सब देवताओं के अर्पण करते हैं। निःसंदेह यह है अश्वमेध, जो यह चमकता है (तपता है = सूर्य) और बरस उसका शरीर है। यह अग्नि (जो व्यापक वैश्वानर है) यज्ञ का अग्नि (अर्क) है, और ये लोक उसका शरीर हैं, सो यह दोनों अर्क और अश्वमेध, (यज्ञ) हैं। और वह फिर एक ही देवता है—मृत्यु ही। (जो इस रहस्य को जानता है) वह मृत्यु को भांज (शिकस्त) दे देता है। मृत्यु उसको नहीं पहुंचाता मृत्यु इस का अपना आप हो जाती है। वह इन देवताओं में से एक होता है* ॥

---

* यहां ४-७ का अर्थ लिख दिया है। यहां के हरएक रहस्य को प्रकाश करना कठिन है। समस्त तात्पर्य यह है, (४) कि जब तीनों लोक अलग हुए, और इन में वह पहली क्रिया बराबर रही। पृथिवी पर सूर्य चमका और ऋतु बदलने लगे। और वह बरस हुआ। (५) अगर यह विराट् इस से अगली सृष्टि उत्पन्न हुए बिना ही लीन हो जाता, तो यह बहुत थोड़ी सृष्टि होती, और सृष्टि रचने का प्रयोजन अधूरा रहता। इसलिये सृष्टि आगे बढ़ी और इस पृथिवी पर मनुष्य और

तीसरा ब्राह्मण *

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः का-

पशु, यज्ञ और वेद प्रकट हुए। जो कुछ यह उत्पन्न हुआ है, यह सब उस मृत्यु से हुआ है और उसी में लीन होगा, (६) अब दूसरी कल्पना इसी विराट् में एक बड़े यज्ञ (अश्वमेध) की की गई है। जब तक आत्मा के साथ प्राण इस शरीर में है, शरीर में महिमा है कान्ति है और बल है। जब आत्मा इसको छोड़ता है,तो प्राण छोड़ देते हैं। यह मुर्दा हो जाता है और फूल जाता है। इसी प्रकार इस विराट् में जो आत्मा है, उसके साथ ही इसकी महिमा है,उसके साथ ही इसका बल है, आत्मा इस से अलग हुआ (कल्पना है) प्राण अलग हुआ, यह मुर्दा हुआ और फूल गया (७) जिस लिये यह फूल गया (अश्वत्) इसलिये इस विराट् का नाम अश्व है। और जिस लिये उसके प्रवेश करने से फिर पवित्र हो गया, इसलिये यह यज्ञ के योग्य (मेध्य) है। इसी मेध्य अश्व को पहिले (१।२)में विराट् रूप दिखला आए हैं। इस विराट् में वही व्यापक है मृत्यु। और यह एक २ देवता उसी के अंग हैं यह विराट् उसी अन्तरात्मा की भेंट करता है जो वर्ष की भिन्न २ ऋतुओं में इस में उत्पन्न होता है "बसन्त इसका आज्य (घी) है गर्मी इन्धन है और शरत् (अक्तूबर, कार्तिक) हवि, (ऋग्० १०।९०। ६)। हां यह समष्टि जगत् अपनी उपज समेत अपने आप को उस की भेंट करता है। और यह पृथिवी आदि अपनी २ उपज समेत अपने २ देवता की। इस अश्वमेध का अग्नि यही है जो यह वैश्वानर सारे व्यापक है और त्रिलोकी जिसका शरीर है और यही चमकता हुआ सूर्य अश्वमेध है। वस्तुतः यह एक ही देवता है वही मृत्यु है। वही समष्टि में है, वही व्यष्टि में है। उसी से यह जगत् बाहर आता है और उसी में लीन होता है। वही इस के लिये प्राण है, वही इसके लिये मृत्यु है। यह मृत्यु का भी मृत्यु है। जो इसको पहचान ले, मौत उससे दूर भाग जाए या यूं कहो कि मृत्यु इस का अपना बन जाए और यह अमर होकर द्यौ लोक में देवता की तरह चमके॥

* यह तीसरा ब्राह्मण उद्गीथ ब्राह्मण कहलाता है। माध्यन्दिन शाखा की उपनिषद् यहां से आरम्भ होती है॥

नीयसा एव देवा ज्यायसाअसुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

दो प्रकार के प्रजापति के पुत्र थे देवता और असुर। उन में से देवता छोटे थे और असुर बड़े थे इन (देवों ने) इन लोकों में स्पर्धा की (असुरों को पीछे छोड़ दें और हम आगे बढ़ें। हम इन पर प्रबल आ जाएं इस प्रकार देवताओं ने ज़ोर मारा)। उन्होंने कहा "अच्छा हम असुरों को, यज्ञ (ज्योतिष्टोम) में उद्गीथ* के द्वारा दबा लेंगे" ॥ १ ॥

तेह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना ऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदम प्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥२॥

उन्होंने वाणी से कहा "तू हमारे लिये (उद्गीथ को) ऊंचेगा"। (वाणी ने कहा) "बहुत अच्छा" और उन के लिये वाणी ने (उद्गीथ) गाया। जो वाणी में भोग है, उसको उस ने देवताओं के लिये गाया। और जो अच्छा बोलना है, वह अपने

* उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओ३म् से आरम्भ होता है। उद्गाता इसको सोमयज्ञ में गाता है। सोमयज्ञ सात हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। येही सात यज्ञ सोम की सप्त संस्था हैं। (देखो आश्वालायन श्रौ० सू० अध्याय ६)

लिये। उन्होंने (असुरों ने) जाना। निःसंदेह इस गाने वाले (उद्गाता) से ये हमें दबा लेंगे, इसलिये उस पर हमला करके (उसको) बुराई (पाप) से बींध दिया। वह, जो वह बुराई है। जो २ यह अयोग्य बोलना (झूठ, द्रोह, असभ्य, कठोर बोलना) है, यही वह बुराई है॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं नउद्गायेति तथेति। तेभ्यः प्राण उदगायद्। यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेनवै नउद्गात्रा ऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मना ऽविध्यन् स यः पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा॥ ३॥

तब उन्होंने (देवों ने) सांस (घ्राण) को कहा "तू हमारे लिये (उद्गीथ को) गा" "बहुत अच्छा" उनके लिये सांस ने (उद्गीथ) गाया। जो सांस में भोग है, उसको उसने देवताओं के लिये गाया और जो अच्छा सूंघना है वह अपने लिये। उन्होंने (असुरों ने) जाना, निःसंदेह इस गाने वाले (उद्गाता) से ये हमें दबा लेंगे। इसलिये उस पर हमला करके उस को पाप से बींध दिया। वह, जो वह पाप है, जो यह अयोग्य सूंघना है, यही वह पाप है॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वैन उद्-

गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मानाऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ४

तब उन्होंने नेत्र को कहा, "तू हमारे लिये (उद्गीथ) गा" "बहुत अच्छा" उन के लिये नेत्र ने (उद्गीथ) गाया। उन असुरों ने जाना, निःसंदेह इस उद्गाता से ये हमें दबा लेंगे, इसलिये (उस पर) हमला करके उसको पाप से बींध दिया। वह जो वह पाप है, जो यह अयोग्य देखना है, यही वह पाप है॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उदगायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद् यः श्रोत्रेभोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत्कल्याण ँ शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना ऽविध्यन् स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूप ँ शृणोति स एव स पाप्मा॥ ५॥

तब उन्होंने श्रोत्र (कान) को कहा, "तू हमारे लिये (उद्गीथ) गा" "बहुत अच्छा" उन के लिये श्रोत्र ने (उद्गीथ) गाया। जो श्रोत्र में भोग है, वह उसने देवताओं के लिये गाया और जो अच्छा सुनना है, वह अपने लिये। उन (असुरों) ने जाना। निःसंदेह इस उद्गाता से ये हमें दबा लेंगे, इसलिये हमला करके उसको पाप से बींध दिया। वह जो वह पाप है। जो २ यह अयोग्य सुनना है। यही वह पाप है॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उदगायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्। यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्

यत् कल्याणꣳसंकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा ऽत्येष्येन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मना ऽविध्यन् स यः स पाप्मा, यदेवेदमप्रतिरूपꣳसंकल्पयति स एव स पाप्मा। एवमुखल्वेता देवता पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मना ऽविध्यन् ॥ ६ ॥

तब उन्होंने मन को कहा "तूं हमारे लिये (उद्गीथ) गा" "बहुत अच्छा" उनके लिये मन ने (उद्गीथ) गाया । जो मन में भोग है उसको देवताओं के लिये गाया, जो अच्छा संकल्प (ख्याल) है, उसको अपने लिये । उन(असुरों) ने जाना, इस उद्गाता से ये हमें दबा लेंगे। उन्होंने हमला करके उसको पाप से बींध दिया । वह, जो वह पाप है; जो २ यह अयोग्य ख्याल करना है, यही वह पाप है, इस प्रकार उन्होंने इन देवताओं को बुराइयों से मिलादिया इस प्रकार उन्होंने इन देवताओं को बुराई से बींधा ॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति । तेभ्य एष प्राण उदगायत्,तेविदुरनेनवै न उद्गात्रा ऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन् स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳहैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुः । ततो देवा अभवन् पराऽसुराः। भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति, य एवं वेद ॥ ७ ॥

तब उन्होंने यह जो मुख में प्राण है, इसको कहा "तू हमारे लिये (उद्गीथ) गा" "बहुत अच्छा" उनके लिये इस प्राण ने (उद्गीथ) गाया। उन (असुरों) ने जाना, इस गाने वाले से यह हमें दबा लेंगे। (उस पर) हमला करके उसको पाप से बींधना चाहा। सो जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को लग कर चूर्ण हो जाए, ऐसे ही वे (असुर) चूर्ण होते हुए चारों ओर नष्ट हुए। तब देवता बढ़े और असुर गिरे (वह) जो इस प्रकार जानता है, अपने आप से बढ़ता है, और इसका शत्रु जो इस से द्वेष करता है, गिरता है॥

इस तीसरे ब्राह्मण में यह सारा वर्णन एक आख्यायिका की रीति पर लिखा है, अभिप्राय यह है, कि हर एक मनुष्य के अन्दर दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं एक वे जो धर्म और परोपकार की वृत्तियां है और दूसरी पाप और स्वार्थ की। इन्हीं वृत्तियों को गीता अध्याय १६ में दैवी और आसुरी संपद कहा है। यही देवता और असुर हैं। ये वृत्तियां इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होती हैं, इसलिये इन्द्रियों को देव और असुर कहते हैं। जो वृत्तियें स्वार्थ की हैं, वे मनुष्य के साथ ही जन्म लेती हैं, इसलिये वे बड़ी हैं। पर धर्म और परोपकार की वृत्तियां जन्म के बहुत पीछे शास्त्र के अभ्यास और आचार्य के प्रसाद से उत्पन्न होती हैं। इसलिये वे छोटी हैं। स्वार्थ की वृत्तियां यूं भी अधिक हैं, लोक में प्रायः इन्हीं का राज्य है ऐसी जगह बहुत थोड़ी हैं, जहां केवल शास्त्रीय वृत्तियों का ही अधिकार है। जब मनुष्य पर शास्त्र की सचाई असर करती है, तब धर्म और परोपकार की वृत्तियां उदय होती हैं और वे पाप और

स्वार्थ की वृत्तियों को दबा लेना चाहती हैं। दूसरी ओर आसुरी वृत्तियां दैवी वृत्तियों को निकालना चाहती हैं। यही देवता और असुरों की स्पर्धा है, यही देवासुर संग्राम है ॥

स्वार्थ की वृत्तियां किस तरह दबती हैं और परोपकार की वृत्तियां किस तरह प्रबल बनती हैं, इसके लिये जो उपाय देवताओं ने ढूंढा, वह यज्ञ था। क्योंकि यज्ञ के समान स्वार्थी जीवन को परमार्थी बनाने वाला, व्यष्टि जीवन को समष्टि के साथ सम्बद्ध करने वाला और कोई उपाय नहीं। अतएव देवों ने ज्योतिष्टोमयज्ञ आरम्भ किया ॥

अब उद्गाता का काम किसको सौंपना चाहिये, उद्गाता यजमान की कामनाएं पूरा होने के लिये उद्गीथ गाएगा। अर्थात् उद्गीथ गाकर उद्गीथ के देवता*से वर मांगेगा। यहां यजमान देवता हैं, वे क्या वर चाहते हैं, वे चाहते हैं, कि परोपकार बढे और स्वार्थ गिरे। उनको ऐसा उद्गाता चाहिये, जिसका जीवन परोपकारमय हो। क्योंकि यजमान के लिये उसी ऋत्विज की प्रार्थना फल लाएगी, जो आप उसी रंग में रंगा हुआ है ॥

---

* उद्गीथ का देवता परमात्मा है। छान्दोग्य (१।८) में उद्गीथ में कुशल तीन ऋषियों का संवाद दिया है, जहां अन्त में जैवलि प्रवाहण ने इस बात को सिद्ध किया है, कि उद्गीथ आकाश है, वह आकाश जो सबसे बड़ा, सब के लिये शरण लेने योग्य, रचने वाला और प्रलय करने वाला है। ऐसा आकाश परमात्मा ही है। "आकाशस्तल्लिंगात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।२२) इस सूत्र में इस आकाश का अर्थ ब्रह्म सिद्ध किया है। और छान्दोग्य के आरम्भ में भी उद्गीथ को 'ओ३म्' बतलाया है ॥

उन्होंने एकमति होकर बाणी को कहा कि तुम हमारे लिये उद्गाता बनो उसने स्वीकार किया, और जो कुछ उसने किया, दूसरों की भलाई के लिये किया। व्यवहार सारे बाणी से चलते हैं, पर फल उनका सारे इन्द्रियों को होता है, बाणी अकेली नहीं भोगती ॥

जब मनुष्य अपने कर्तव्य को कर्तव्य समझता है, अपने प्रभु की आज्ञा मान कर करता है, तो कोई वस्तु उसको अपने कर्तव्य से नहीं गिरा सक्ती। और न वह उस में लिप्त होता है। आज उसको प्रभु का आदेश होता है, कि तुम यह काम करो वह उस में लग जाता है, कल उसको दूसरा आदेश मिलता है, कि वह काम करो। वह झट उसी में लग जाता है। और यदि वह ऐसा नहीं समझता, और उस कर्तव्य के पालन में अपना इष्ट अनिष्ट सोचने लगता है, तो जिधर उसको स्वार्थ खींच ले जाता है, वह उधर मारे २ फिरता है। बस बाणी में यह दोष आगया उसने अच्छा बोलने का फल तो सब देवों को दिया, पर उसने अच्छा बोलना अपना कर्तव्य नहीं समझा,उसको अपना यश बना लिया। जूंही यह स्वार्थ उसमें आया, असुरों ने झट उसको बुराई से जकड़ दिया। अब वह स्वार्थ के अधीन झूट छल कपट द्रोह सब कुछ करने लगी। यदि बाणी अपना कर्तव्य समझ कर बोलती, तो वह उसके विरुद्ध न बोलती,जोउसके मालिकका आदेशहै। पर बाणी ने ऐसा किया। जो हाल बाणी का है,वही बाकी सारेइन्द्रियों का है। इसलिये वे सारे उद्गाता के काम में फेल हुए। अन्ततः एक देवता चुना गया, जो इस काम में पूरा निकला। देवताओं ने प्राण को उद्गाता के तौर पर चुन लिया। सचमुच यह बड़ा

योग्य उद्गाता है। दिन रात अपने कर्तव्य में लगा है, सब इन्द्रिय सो जाएं, यह जागता है, रोग ग्रस्त होकर मनुष्य दिनों तक बेहोश रहे, यह अपना काम बराबर किये जाता है। यह अपने कर्तव्य को कर्तव्य समझता है, क्या मजाल है, कि कभी उस में चूक हो जाए। इसका काम सबको जीवन देना है, यह सबका जीवन है और आप जीवनरूप है। असुरों ने तो इस पर भी हमला किया, पर यहां कोई स्वार्थ की रेखा न थी। जिस में स्वार्थ का नाम नहीं अपने मालिक की आज्ञा पर दृढ़ है, उस को असुर क्या बहकाएगा। असुर इस पर हमला करके इस तरह नष्ट हुए। जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को फोड़ने लगे, तो वह आपही चूरा २ हो जाएगा। यह आख्यायिका बतलाती है, कि तुम काम करो इस जगत् में, जिस तरह शरीर में प्राण काम करता है। तुम प्राण का व्रत धारण करो, जो कभी अपने कर्तव्य में प्रमाद नहीं करता, उस बाणी का व्रत मत धारण करो, जिसको स्वार्थ अपने कर्तव्य से गिरा देता है। प्राण की नाईं दूसरों के लिये जीवन बनो, न कि बाणी की नाईं दूसरों पर अपने जीवन का निर्भर रक्खो। और इस तरह आसुरी वृत्तियों को जीतकर धर्म का राज्य फैलाओ *

इसके आगे प्राण के विषय में ही और कई एक पवित्र गुणों का उपदेश किया है, मनुष्य को चाहिये कि प्राण का व्रत धारण करता हुआ इन गुणों को भी धारण करे—

---

* यह आख्यायिका छान्दोग्य (१।२) में भी है। और इसी आख्यायिका के आधार पर एक बड़ा सुन्दर नाटक प्रबोध चन्द्रोदय रचा गया है। और इस का अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है, जो गुरुमुखी अक्षरों में भी मिलता है॥

. ते होचुः, क नु सोऽभूद्, यो न इत्थमसक्तेत्यय-मास्ये ऽन्तरिति सो ऽयास्य आङ्गिरसो ऽङ्गाना᳖ हि रसः ॥ ८ ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूर᳖ ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्यु मपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयां चकार, तदासां पाप्मनो विन्यदधात्, तस्मान्न जनमियान्नान्तमि-यान्नेत्पाप्मानं मृत्यु मन्ववयानीति ॥ १० ॥

उन्होंने (देवों ने) कहा, " कहां था वह, जिसने हमें इस प्रकार आलिङ्गन किया (गले लगाया)" (उन्होंने कहा) यह अन्दर मुख में है " इसलिये वह प्राण अयास्य (कहलाता) है और जिसलिये यह अंगों का रस (सार) है, इसलिये आंगि रस (कहलाता) है * ॥ ८ ॥

---

* अयम् आस्ये से 'अयास्य' बना है। अर्थ यह है अयम्—यह आस्ये—मुंह में। इन्द्रियों ने कहा, यह मुंह में है इसलिये प्राण का नाम अयास्य है। इसी प्रकार यह अंगों का रस है क्योंकि प्राणों के निकल जाने पर देह सूख जाता है, जैसा कि आगे (१८ खण्ड में) कहेंगे। इसलिये प्राण का नाम आंगिरस है। अर्थात् अंग + रस से आंगिरस बना है। इसी प्रकार आगे २ जो नाम दिये हैं, उनके विषय में भी जानना चाहिये। यहां अयास्य और आंगि रस आदि जो प्राण के नाम दिये हैं, ये प्रसिद्ध नाम नहीं, और जगह नहीं आते। उपनिषदों में ही यह २ धर्म (खासीयतें) दिख-लाने के लिये यह नाम लिखे हैं ॥

वह देवता (प्राण) दूर नाम (वाला) है । क्योंकि इस से मृत्यु दूर रहता है । निःसंदेह उस पुरुष से मृत्यु दूर रहता है, जो इस (रहस्य) को जानता है ॥ ९ ॥

उस देवता (प्राण) ने इन देवताओं (इन्द्रियों) की बुराई मृत्यु को (अर्थात् बुराई ही इन की मृत्यु है) दूर हटा कर जहां इन दिशाओं का किनारा है वहां पहुंचा दिया, वहां इनकी बुराइयों को रख दिया, इसलिये चाहिये कि कोई पुरुष (उस) पुरुष (किनारे के रहने वाले) की तर्फ न जाए, न किनारे की तर्फ जाए । (इस डर से कि) न हो (मुबादा) कि बुराई जो मृत्यु है उससे मिलूं ॥ १० ॥

(इस से प्रतीत होता है, कि उस समय जो लोग धर्म से पतित हो जाते थे, उनको शहर से बाहर दूर रहने को जगह मिलती थी । और मनुष्य का जैसा कि स्वभाव है, वे सब आपस में मिलकर रहते थे । उपनिषद् बतलाती है, कि मृत्यु, मृत्यु नहीं मृत्यु यही है, जो पाप में फंसना है । यदि तुम मृत्यु से बचना चाहते हो, तो तुम्हें चाहिये, कि जो लोग धर्म से पतित हैं, उन में जाकर न मिलो, न उनके रहने की जगह पर रहो । ऐसा न हो, कि पाप जो उनके स्वभाव में है, वह तुम्हें भी लग जाए । तुम सदा उनकी संगति में रहो, जो जितेन्द्रिय हैं । उन्हीं के निवास में अपना निवास करो ॥

सावा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युम पहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥ ११ ॥

स वै वाचमेव प्रथमा मत्यवहत्, सा यदा मृत्यु

मत्युमुच्यत सो ऽग्निरभवत् । सो ऽयमग्निः परेण मृत्यु मतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२ ॥

निःसंदेह उस देवता (प्राण) ने इन देवताओं की बुराई मृत्यु को दूर हटा कर, तब इन को मृत्यु से पार पहुंचा दिया ॥११॥

उसने पहले पहल वाणी को पार पहुंचाया, वह जब मृत्यु से छूट गया,(आज़ाद होगया)तो यह अग्नि होगई(जो कुछ पहले थी)। सो यह अग्नि मृत्यु से परे पहुंचा हुआ चमकता है ॥१२॥

अथ प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्यमुच्यत, स वायुरभवत्, सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तो पवते ॥ १३ ॥

अथ चक्षुरत्यवहत् । तद् यदा मृत्युमत्यमुच्यत, स आदित्योऽभवत् । सो ऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्र मत्यवहत् तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत,ता दिशोऽभवंस्ताइमा दिशः परेण मृत्यु मतिक्रान्ताः ।१५

अथ मनो ऽत्यवहत् । तद् यदा मृत्युमत्यमुच्यत, स चन्द्रमा अभवत्, सो ऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भाति । एव ᳕ हवा एनमेषा देवता मृत्युमति वहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

तब वह सांस को पार ले गया। जब सांस (प्राण = घ्राण) मृत्यु से मुक्त हुआ (आज़ाद हुआ) वह वायु हो गया। वह वायु,

मृत्यु से परे पहुंचा हुआ बहता है ॥ १३ ॥

तब वह नेत्रको पार ले गया। जब नेत्र मृत्यु से मुक्त हुआ, तो वह आदित्य (सूर्य) हो गया। सो वह आदित्य मृत्यु से परे पहुंचा हुआ तपता है ॥ १४ ॥

तब वह श्रोत्र (कान) को पार ले गया। जब श्रोत्र मृत्यु से मुक्त हुआ, तो वह दिशाएं हो गया। वे ये दिशाएं हैं, मृत्यु से परे पहुची हुई ॥ १५ ॥

तब वह मन को पार ले गया। जब मन मृत्यु से मुक्त हुआ, तो वह चन्द्रमा हो गया। सो वह चन्द्रमा मृत्यु से परे पहुंचा हुआ चमकता है। जो इस (रहस्य) को जान लेता है, निःसंदेह, यह देवता (प्राण) इसी प्रकार उसको भी मृत्यु से पार ले जाता है* ॥ १६ ॥

इनका आशय यह है, कि मृत्यु यही है, कि एक वस्तु जो अपने तत्त्व से अलग होकर अपना भिन्न नाम रूप रखती है जैसे सोने के कुंडल सोने की डली से अलग शकल और अलग नाम रखते हैं। उनका मृत्यु यही है कि वे अपनी बनावटी नाम रूप को छोड़ देते हैं। पर असल तत्त्व में कोई भेद नहीं आता। यह उस हालत में जब इनका नाम रूप अलग है तब भी वही तत्त्व हैं। फिर भी वही तत्त्व रहेंगे। उनके तत्त्व में कुछ भेद नहीं आएगा, इसलिये मृत्यु केवल हालत बदलने का नाम है। इसी प्रकार इन्द्रियों के लिये भी कोई मृत्यु नहीं है, वे जिन

* इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो पाप उत्पन्न होता है, वह पुरुष उस पाप में नहीं फंसता, जो यह जान लेता है, कि जैसे आग हाथ को जल देती है, निःसंदेह इसी प्रकार इन्द्रियों के पाप इन्द्रियों को मृत्यु की ओर ले जाते है ॥

तत्त्वों से अलग हुई हैं, अब भी उन्हीं का रूप हैं और फिर भी उन्हीं का रूप बनकर रहेंगी। इनके लिये कोई मृत्यु नहीं, सिवाय इसके कि ये पाप में फंसें। यदि इनको इस मृत्यु से बचा लिया जाए, तो ये मरेंगी नहीं, बल्कि अपने असली रूप को धारण करके चमकेंगी। और वह असली रूप वाणी का अग्नि है सांस का वायु, नेत्र का आदित्य, श्रोत्र का दिशाएं और मन का चन्द्रमा है और इसी लिये विराट् के वर्णन में इन पदार्थों को इन्द्रियों का रूप वर्णन किया है (देखो ऋ० १०।९०।१३-१४)

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद्। यद्धिकिंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यतइह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं, तदात्मन आगासीरनुनोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माऽभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं पर्य्यविशन्त। तस्माद् यदनेनाऽन्नमत्ति, तेनैता स्तृप्यन्ति। एवꣳहवा एनꣳ स्वा अभिसंविशंति, भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद। य उ हैवंविदꣳस्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति, न हैवालं भार्येभ्यो भवति। अथ य एवैतमनु भवति, योवैतमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८ ॥

तब (प्राण ने) अपने लिये खाने योग्य खुराक (अन्न) को गाया। क्योंकि जो कुछ खुराक खाई जाती है, केवल प्राण

से ही वह खाई जाती है, और यहां (देह में) वह ठहरता है॥ (अर्थात् प्राण ने वाणी आदि की नाईं अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये कुछ नहीं किया, किन्तु उसने जो कुछ अपने लिये किया (खुराक को अपने लिये बनाया) वह इसलिये किया, कि वह इस शरीर में रह सके और इसतरह पर वह बाकी इन्द्रियोंको जीवन देसके) ॥ १७॥

उन देवताओं ने कहा, "निःसंदेह, इतना ही तो यह सब है जो यह अन्न है (अर्थात् अन्न ही दुनिया में सब से बड़ी चीज़ है, जिसके सहारे जीवन है) उस को तूंने अपने लिये गाया है (गाकर अपने लिये लाभ किया है) हमें भी इस अन्न में हिस्सा दो"। (उसने कहा) "तुम सारे मुझ में प्रवेश कर जाओ" (उन्होंने कहा) "बहुत अच्छा" और वे उस में चारों ओर प्रवेश कर गए। इसलिए प्राण से जो अन्न खाता है, उस (अन्न) से ये (देवता, सारे इन्द्रिय) तृप्त होते हैं। जो इस प्रकार (इस रहस्य) को जानता है, इसी प्रकार अपनी ज्ञाति (कौम) के लोग उसके पास आते हैं (अपनी जीविका के लिये, जैसे कि प्राण के पास इन्द्रिय अपने जीवन के लिये आए) और वह (पास आए) अपने लोगों का पालने वाला होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का पालने वाला है) वह (अपने लोगों का) सब से उत्तम आगे चलने वाला (लीडर = नेता) होता है (जैसे प्राण इन्द्रियों का है)। वह बड़ा दृढ़* (मज़बूत) मालिक होता है। और जो अपने लोगों में से इस (रहस्य) के जानने वाले के रस्ते में रुकावट डालता है† वह कभी भी अपने पुष्ट करने के योग्य

---

* अन्नादः का अर्थ है अन्न खाने वाला अर्थात् रोगों से बचा हुआ = मज़बूत॥

† अक्षरार्थ यह है, कि मुकाबिला करने वाला बनना चाहता है

योग्य नहीं होता (अर्थात् और कोई भी पुरुष इसके बराबर अपनी ज्ञाति का सहायक नहीं बन सक्ता) पर वह जो इसके पीछे लगता है (अनुयायी बन जाता है) या जो इसके पीछे लगकर पुष्ट करने योग्यों को पुष्ट करना चाहता है, वही पुष्ट करने योग्यों (अपनी ज्ञाति के लोगों) के लिये योग्य होता है ॥

सो ऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गाना ँ हि रसः । प्राणो वा अङ्गाना ँ रसः, प्राणो हि वा अङ्गाना ँ रस स्तस्माद् यस्मात् कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गाना ँ रसः ॥ १९ ॥

वह अयास्य आंगिरस (कहलाता) है, क्योंकि वह अंगों का रस है । प्राण अंगों का रस है । हां प्राण अंगों का रस है, इसीलिये जिस किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वहीं वह सूख जाता है, (नीरस होजाता है) क्योंकि यह अंगों का रस है ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः ॥ २० ॥

यही बृहस्पति भी है, क्योंकि वाणी बृहती (ऋचाएं है) और यह उसका पति है, इसलिये बृहस्पति है ॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

यही ब्रह्मणस्पति भी है, क्योंकि वाणी ब्रह्म है (यजु) है, उसका यह पति है, इसलिये ब्रह्मणस्पति है ॥ २१ ॥